E: ISSN NO.: 2349-980X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-6* ISSUE-9*(Part-1) May- 2019
Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika

हिन्दी आलोचना और शुक्ल का रस चिंतन

वीरेन्द्र भारद्वाज
एसोसिएट प्रोफेसर,
हिन्दी विभाग,
शिवाजी कालेज,
दिल्ली, भारत

सारांश

शुक्ल जी ने अपनी मान्यताओं को भिन्न भिन्न प्रसंगों के तहत स्थापित किया है। काव्य के लक्ष्य की महत्ता के अनुसार अपनी दृष्टि को भी वे महान रखकर चले हैं। शुक्ल जी ने सदा काव्य की गरिमा को ही मुख्यता प्रदान की है। उनकी दृष्टि में अमर एवं चिरस्थायी काव्य की पहचान उसके मनुष्य मात्र से जुड़े रहने में ही निहित है।

मुख्य शब्द : हिन्दी साहित्य, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आलोचना।

प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य के जिस दौर में आचार्य शुक्ल ने अपनी आलोचना दृष्टि का प्रकाश फैलाया, उसे आधुनिक हिन्दी साहित्य का स्वर्ण काल कहा जाता है। उनके समकक्ष रचनाकारों में – जयशंकर प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, प्रेमचंद आदि प्रमुख हैं। हिन्दी आलोचना के संदर्भ में यदि उन्हें हिन्दी काव्यशास्त्र का भरतमुनि कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी। उनकी मान्यताओं और स्थापनाओं का हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी आलोचना जगत के प्रमुख आलोक स्तम्भ है। मत–मतैक्य यथावत रहते हुए भी वे आधुनिक विचारधारा में, हिन्दी साहित्य की मौलिक स्थापनाओं में अपना अनन्य स्थान रखते हैं। उनकी सूक्ष्म तीक्षण दृष्टि ने साहित्य का गहन अध्ययन किया और अपनी पैनी और पारखी अन्तर्दृष्टि से साहित्य के मर्म का उद्घाटन भी किया। रस विषयक उनकी मौलिक दृष्टि को सभी परवर्ती साहित्यचिंतकों और काव्य शास्त्रीय चिंतकों ने अपना आदर्श माना। आचार्य शुक्ल की मान्यताओं का खण्डन भी यदि परवर्ती चिंतकों ने किया तब भी उनकी मौलिक स्थापनाओं को तो उन्हें भी ग्रहण करना पड़ा।

आचार्य शुक्ल ने रस को कविता के संदर्भ में स्पष्ट करने से पूर्व हृदय की बद्ध अवस्था एवं मुक्तावस्था को स्पष्ट किया है। सबसे पहले वह बद्ध हृदय को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं 'मनुष्य अपने भावों, विचारों और व्यापारों के लिए दूसरे के भावों, विचारों और व्यापारों के साथ कहीं मिलता और कहीं लड़ता हुआ अंत तक चला चलता है और इसी को जीना कहता है। जिस अनंत रूपात्मक क्षेत्र में यह व्यवसाय चलता रहता है उसका नाम है जगत्। जब तक कोई अपनी पृथक् सत्ता की भावना को ऊपर किए इस क्षेत्र के नाना रूपों और व्यापारों को अपने योग, क्षेम, हानि लाभ सुख–दुख आदि से संबद्ध करके देखता रहता है तब तक उसका हृदय एक प्रकार से बद्ध रहता है।'[1]

अर्थात् बद्ध अवस्था में मनुष्य या लोक हृदय अपने ही सीमित दायरों में सिमटा रहता है यह सीमित परिधि बोध हमें अपनी स्वपररूपता से ऊपर नहीं उठने देता और जब तक स्व का विस्तार न हो तब तक मुक्तावस्था आ नहीं सकती काव्य की सार्थकता मनुष्य हृदय को 'अयनिजःपरोवेति' के छोटे घेरे से ऊपर उठा कर इस दशा में स्थित करने में है जिसे आचार्य शुक्ल ने पृथक सत्ता की धारणा से छूटना मानते हुए कहा है – 'इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूट कर अपने आपको बिल्कुल भूलकर विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है तब वह मुक्त हृदय हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।'[2]

शुक्ल जी ने कविता को वहीं लाकर खड़ा किया है जहां संस्कृत के रसवादी आचार्यों ने उसे स्थापित किया था।[3] संस्कृत आचार्यों ने भी विशेषतः अभिनवगुप्त की परम्परा में आने वाले रसवादी आचार्यों ने वेद्यान्तर विगलित अवस्था एवं वेद्यान्तर सम्पर्क शून्यता जन्य जिस अवस्था को 'ब्रह्मास्वाद सहोदर' के रूप में निर्दिष्ट किया है लगभग उसी परम्परा में आचार्य शुक्ल खड़े हैं। वे

भी आत्मा की मुक्तावस्था और हृदय की मुक्तावस्था के द्वारा ज्ञान एवं रस को एक कोटि में लाकर खड़ा कर देते हैं। आचार्य शुक्ल की यह धारणा 'रसो वै सः'[4] का ही प्रतिफलन करती है। कविता के माध्यम से आचार्य शुक्ल ने मनुष्य सहृदय को 'विश्व हृदय' से जोड़ने की बात कही है। विश्व हृदय ही रस की सटीक गवाही है जिसे शुक्ल जी ने कविता, मनुष्यत्व, तादात्म्य, विश्व हृदय एवं आनन्द नृत्य से जोड़कर देखा है। आचार्य शुक्ल के अनुसार–कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत् के बीच क्रमशः अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्चभूमि पर ले जाती है। भावयोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुंचे हुए मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भाव सत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व हृदय हो जाता है। उसकी अश्रुधारा में जगत् की अश्रु धारा का, उसके हास विलास में जगत् के आनन्द नृत्य का उसके गर्जन तर्जन में जगत् के गर्जन तर्जन का आभास मिलता है।[5] इस पूरे अनुच्छेद में शुक्ल जी की सारी शक्ति कविता को विश्व हृदय से जोड़कर देखने में है। विश्व हृदय से जुड़कर कविता का क्षेत्र व्यापक धरातल ग्रहण कर लेता है। चित्त द्रवण की मार्मिक शक्ति ही कविता की शक्ति के रूप में यहां देखी जा सकती है। शुक्ल जी ने कविता के कई उद्देश्य गिनाये हैं। प्रायः सुनने में आता है कि कविता का उद्देश्य मनोरंजन है। पर जैसा कि हम पहले कह आए हैं कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत् के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य हृदय का सामंजस्य स्थापन है।[6]

शुक्ल जी ने लोक हृदय और मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण कह कर रस की समाज सापेक्षता पर ही बल दिया है। मनुष्य के हृदय में जब तक कविता अपना मार्मिक प्रभाव स्थापित न कर ले तब तक वह कविता अपने लक्ष्य में सफल नहीं है। दो टूक शब्दों में शुक्ल जी ने कविता का अन्तिम लक्ष्य मार्मिक पक्षों को माना है यह मार्मिक पक्ष ही जन हृदय की नब्ज है और उनकी संगति शुक्ल जी ने साहित्य में विद्यमान मार्मिक काव्य प्रसंगों के माध्यम से स्पष्ट भी की है। उन्होंने अपने मन्तव्य को 'रस मीमांसा' के अन्तर्गत बखूबी समझाया भी है। कविता का अंतिम लक्ष्य जब मार्मिक पक्षों के साथ मनुष्य के हृदय के सामंजस्य स्थापन से उन्होंने जोड़ दिया तब साथ ही यह भी निर्दिष्ट किया कि 'केवल' मनोरंजन का हल्का उद्देश्य सामने रखकर जो कविता का पठन–पाठन या विचार करते हैं वे रास्ते में रह जाने वाले पथिक के समान हैं।'[7] शुक्ल जी कविता को उसके अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचाने के लिए किसी समझौते के लिए तैयार नहीं थे। अपनी धारणा को पुष्ट करने के लिए उन्होंने पंडित राज जगन्नाथ की काव्य विषयक परिभाषा 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'[8] की अपने ही 'स्टाईल' से धज्जियां उड़ायी हैं। मनोरंजन आनन्द आदि शब्दों को भी इसी लपेटे में लेते हुए शुक्ल जी ने अपनी बात पर जोर देते हुए साफ शब्दों में कहा है कि 'कविता की इसी रमाने वाली शक्ति को देखकर जगन्नाथ ने रमणीयता का पल्ला पकड़ा और उसे काव्य का साध्य स्थिर किया तथा योरोपीय समीक्षकों ने 'आनन्द' को काव्य का चरम लक्ष्य ठहराया। इस प्रकार मार्ग को ही अन्तिम गंतव्य स्थल मान लेने के कारण गड़बड़झाला हुआ।'[9] शुक्ल जी ने अपने 'फ्रेम' में अपनी दृष्टि को इस प्रकार जोड़कर रखा कि अपनी बात के आगे भी उन्होंने समझौता नहीं किया पंडितराज 'रमणीयार्थ' को उन्होंने मार्मिक पक्षों की कसौटी पर जब परखा तो लगा, कहां तो कविता का अन्तिम लक्ष्य है मार्मिक पक्षों के साथ विश्व हृदय का सामंजस्य और कहा 'रमणीयता'। उन्होंने रमणीयता को केवल सुनने में रमणीय माना या मनोरंजन के रूप में लिया और आनन्द को भी क्षणिक उपयोग का एक साधन मान कर उसे कटघरे में खड़ा किया। अपनी धुन में पैठ कर शुक्ल जी ने अनुरंजन, सुख या आनन्द को एक साथ हांक दिया। कारण उन्होंने इन सबको एक ही कोटि का मानकर देखा। अपनी बात को और मजबूती से करते हुए शुक्ल जी ने लिखा – 'मन को अनुरंजित करना, उसे सुख या आनन्द पहुंचाना ही यदि कविता का अन्तिम लक्ष्य माना जाय तो कविता भी केवल विलास की सामग्री हुई। परंतु क्या कोई कह सकता है कि बाल्मीकि जैसे मुनि और तुलसीदास से भक्त ने केवल इतना ही समझ कर श्रम किया कि लोगों को समय काटने का एक अच्छा सहारा मिल जाएगा? क्या इससे गंभीर कोई उद्देश्य उनका न था? खेद के साथ कहना पड़ता है कि बहुत दिनों से बहुत लोग कविता को विलास की सामग्री समझते आ रहे हैं।'[10]

शुक्ल जी की भाषा का पैनापन यहां यह बात स्पष्ट करता है कि मार्मिक पक्षों के साथ मनुष्य हृदय में सामंजस्य के महत् उद्देश्य को बौना करके आंकने वालों को उन्होंने नहीं बख्शा। अपनी ओछी और हीन मनोवृत्ति को कुरेदने वाले कवि मन को उन्होंने आड़े हाथों लिया है आनन्द को उन्होंने मनोरंजन जन्य आनन्द या चमत्कार से उत्पन्न आनन्द के सीमित रूप में लिया है। हृदय की मुक्तावस्था से प्राप्त आत्मस्वरूप के आनन्द से इतर आनन्द को उन्होंने यहां 'फोकस' किया है। मन को हल्के स्तर में आनन्द या मनोरंजन से जोड़ने वाले काव्यों एवं कवियों को उन्होंने आड़े हाथों लिया है और इस दायरे में रीतिकालीन कवियों को लेते हुए उनकी मनोवृत्ति पर खेद प्रकट करते हुए कहा है कि हिन्दी के रीतिकाल के कवि तो मानों राजाओं–महाराजों की काम वासना उत्तेजित करने के लिए ही रखे जाते थे। एक प्रकार के कविराज तो रईसों के मुंह में मकरध्वज रस झोंकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज कान में मकरध्वज रस की पिचकारी देते थे।[11] शुक्ल जी की पीड़ा का असली कारण भी ऐसी मनोवृत्ति के रचनाकार हैं और रीतिकाल में मनोरंजन, आनन्द और अनुरंजन के नाम पर ऐसे काव्यों की बाढ़ आयी हुई हैं। कहां शुक्ल जी की अपनी उदात्त और परिष्कृत दृष्टि जो मार्मिक पक्षों को कविता में सर्वोपरि मानती है और कहां ऐसे स्थल निश्चय ही शुक्ल जी का खेद स्वाभाविक है। सौन्दर्य के प्रति शुक्ल जी के प्रेम में कोई कमी नहीं है वे भी सौन्दर्य भावना के पारखी और समर्थक हैं परन्तु उसे भी अपनी धारणा के साथ स्वीकार करते हैं। वे स्वयं कहते हैं कि जिस सौन्दर्य की भावना में मग्न होकर मनुष्य अपनी पृथक् सत्ता की प्रतीति का विजर्सन करता है, वह अवश्य एक दिव्य विभूति है। भक्त

लोग अपनी उपासना या ध्यान में इसी विभूति का अवलोकन करते हैं। तुलसी और सूर जैसे सगुणोंपासक भक्त राम और कृष्ण को सौन्दर्य भावना से मग्न होकर ऐसी मंगल दशा का अनुभव कर गए हैं जिसके सामने कैवल्य या भक्ति की कामना का पता नहीं लगता।[12]

शुक्ल जी ने 'मनुष्य की अपनी पृथक् सत्ता की प्रतीति का विसर्जन' जो कथन किया है, वह उनकी इस दृष्टि का परिचायक है जो मनुष्य को अहं विगलित अवस्था तक ले जाती है। कविता की सार्थकता मनुष्य को मार्मिक पक्षों के द्वारा अपनी पृथक सत्ता के बोध से मुक्त करने में है। यही विसर्जन है। अहं का विसर्जन स्व– पर का विसर्जन, सीमित दायरे के बन्धन से मुक्ति। और यही है हृदय की मुक्तावस्था। इस मुक्तावस्था को इस विसर्जन जन्य स्थिति को शुक्ल जी ने कर्म और मनोवृत्ति के सौन्दर्य में ढूंढा है। कविता क्या दिखाती है? इसे शुक्ल जी के अनुसार देखने की आवश्यकता है। उनके अनुसार 'कविता' केवल वस्तुओं के ही रंग रूप में सौन्दर्य की छटा नहीं दिखाती, प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के सौन्दर्य के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है। वह जिस प्रकार चित्तवृत्ति को विकसित कर, रमणी के मुखमण्डल आदि का सौन्दर्य मन में लाती है उसी प्रकार उदारता, वीरता, त्याग, दया, परोपकार इत्यादि कर्मों और मनोवृत्तियों का सौन्दर्य भी मन में जगाती है।'[13]

शुक्ल जी ने जीवन के वैविध्य को स्वीकार किया है और मार्मिक प्रसंग केवल अनुकूल और कोमल वृत्तियों में नहीं ढूंढे वे विरोधी शक्तियों और भावों में भी ढूंढे हैं। कहीं कोमलता और सात्विक मनोवृत्ति मार्मिक है तो कहीं कठोर और भयानक भी। इसका निर्धारण तो कविता का लक्ष्य विशेष तय करेगा। उद्देश्य से जुड़कर ही कोमल एवं प्रिय प्रसंग मार्मिक बनते हैं और महत् उद्देश्य से ही जुड़कर कठोर और कुरूप एवं भयानक प्रसंग भी मार्मिक बनते हैं। अपनी बात को शुक्ल जी जब तक उद्धरण सहित स्पष्ट नहीं कर लेते तब तक अपनी उसी बात को वह पुनः पुनः स्थापित करते हैं। मनोवृत्तियों के सौन्दर्य के दूसरे पक्ष को रखते हुए वे कहते हैं–जिस प्रकार वह शव को नोचते हुए कुत्तों और शृंगालों के वीभत्स व्यापार की झलक दिखाती है। उसी प्रकार क्रूर की हिंसावृति और दुष्टों को ईर्ष्या आदि की कुरूपता भी क्षुब्ध करती है। स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए समझना चाहिए कि जिन मनोवृत्तियों का अधिकतर बुरा रूप हम संसार में देखा करते हैं उनका भी सुन्दर रूप कविता ढूंढकर दिखाती हैं दशवदन निधनकारी राम के क्रोध के सौन्दर्य पर कौन मोहित न होगा?[14]

शुक्ल जी ने अपनी मान्यताओं को अनेक प्रकार से भिन्न–भिन्न प्रसंगों के तहत स्थापित किया है। रस मीमांसा के ही अन्तर्गत काव्य का लक्ष्य शीर्षक अपने विचार क्रम में उन्होंने काव्य या कवि कर्म के लक्ष्य को तीन भागों में बांटा उनमें पहले स्थान पर शब्द विन्यास द्वारा श्रोता का ध्यान आकर्षित करना दूसरे भावों का स्वरूप प्रत्यक्ष करना और तीसरे स्थान पर नाना पदार्थों के साथ उनका प्रकृत संबंध प्रत्यक्ष करना। इन तीन भागों में कवि कर्म को बांटने के पश्चात् उन्होंने क्रमशः इन तीनों की काव्य के लक्ष्य से संगति बिठायी है। पहले दो उद्देश्य तो उन्हें केवल आनन्द या मनोरंजन की सीमा से बंधे हुए लगते हैं। अपनी बात को प्रमाण–पुष्ट करते हुए वे आदिकवि बाल्मीकि के काव्य में उद्देश्य को मनोरंजन या आनन्द के परिमित उद्देश्य से न जोड़कर 'मनुष्य मात्र' के हृदय से जोड़ते हैं। शुक्ल जी के अनुसार पर क्या हम कह सकते हैं कि आदिकवि महर्षि बाल्मीकि के महावाक्य का इतना ही परिमित उद्देश्य था? क्या पाठक या श्रोता के हृदय में वे और किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहते थे? क्या उनके क्रोध, शोक और जुगुप्सा के आलंबन उद्दीपन मनुष्य मात्र के क्रोध, शोक और जुगुप्सा के विषय नहीं है? क्या रावण पर क्रोध प्रकट करते हुए राम के मुख से निकले हुए शब्द हमारे हृदय से निकले हुए प्रतीत नहीं होते? रावण और उसके कर्म ऐसे हैं जिन पर मनुष्य जाति क्रोध करने के लिए विवश है।'[15] अतः स्पष्ट है कि शुक्ल जी काव्य के लक्ष्य की महत्ता के अनुसार अपनी दृष्टि को भी महान् रख कर चले हैं। अपनी बात को पूरे आत्मविश्वास एवं आत्मीय जीवन में व्याप्त जन विश्वास के आधार पर वे कहते हैं। उनकी दृष्टि में 'रावण' रावण ही है और उसके कुत्सित कर्म भर्त्सना के ही विषय रहेंगे। रावण के प्रति जन आक्रोश है और रहेगा क्योंकि वह असत् वृत्ति का परिचायक है। भारतीय जन मानस में पैठ कर चुकी धारणाओं से छेड़छाड़ के पक्ष में शुक्ल जी नहीं है। साधारणीकरण के लिए जन मानस के हृदय की अवस्था को उन्होंने महत्त्व दिया है। शील सौन्दर्य की रक्षा के प्रति सजग शुक्ल जी ने राम के शील और सौन्दर्य के साथ भारतीय जनमानस में विद्यमान वासना रूप में स्थित संस्कारों को काफी अहम् माना है। रामलीलाओं में रावण के प्रति व्यक्त आक्रोश के साथ उन्होंने जन हृदय में व्याप्त आस्था की अभिव्यक्ति को ही उजागर करने का प्रयास किया है। अपनी पूर्व स्थापित बात को साधारणीकरण की प्रक्रिया से जोड़ते हुए शुक्ल जी कहते हैं– 'यह क्रोध, भारतीय जनता में ऐसा स्थायी हो गया है कि रामलीला में कभी–कभी कागज के बने रावण को लड़के युद्ध के पहले पत्थरों से मार–मार कर गिरा देते हैं। इसका नाम है साधारणीकरण। विशेष का चित्रण करने में भी 'भाव' के विषय सामान्यत्व की ओर जब कवि की दृष्टि रहेगी तभी यह 'साधारणीकरण' हो सकता है। पर यह सजीव सृष्टि मात्र से हृदय को अपने हृदय में रखने वाले स्वतंत्र कवियों में ही पाया जाएगा। जिनका उद्देश्य राजाओं को प्रसन्न करना होगा वे ऐसे व्यापक लक्ष्य का निर्वाह नहीं कर सकते।[16]

शुक्ल जी ने लक्ष्य की व्यापकता का मानदण्ड प्रस्तुत कर काव्य की गरिमा को ही मुख्यता प्रदान की है। उनकी दृष्टि में अमर एवं चिरस्थायी काव्य की पहचान उसके मनुष्य मात्र के साथ जुड़ने में ही निहित है। शुक्ल जी की संस्कारित एवं परिष्कृत रुचि का परिचय हमें उनके द्वारा व्यक्त मान्यताओं के द्वारा मिलता है। अपनी बात को वे एक सही दिशा तक पहुंचाते हैं। उनकी सम्पति में सच्चे काव्य में सभी कुछ सहज होता है, आरोपित नहीं। अपनी बात को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं– 'सच्चे काव्य में सहज भाव प्रधान होता है आरोपित नहीं। इसमें कवि, पात्र और श्रोता तीनों के हृदय का समन्वय होता है जिससे काव्य का जो प्रकृत लक्ष्य है,

पदार्थों के साथ भावों के प्रकृत संबध का प्रत्यक्षीकरण–जगत के साथ हमारी रागात्मकवृत्ति का सामंजस्य–वह सिद्ध हो जाता है। ऐसे ही काव्य अमर या चिरस्थायी होते हैं जिनमें मनुष्यमात्र अपने भावों के आलंबन पाते हैं।'[17]

कविता को मनुष्य मात्र से संबंधित कर उसे जन हृदय में मार्मिकता उत्पन्न करने वाली कहकर सबके हृदय का समान रूप से आलंबन बनने वाली मान कर हर दृष्टि से साधारणीकरण से जोड़ा है। अपनी धारणा की पुष्टि के लिए शुक्ल जी ने व्यास शैली का आश्रय लेते हुए परत–दर–परत अपनी बात को बड़े कौशल के साथ व्यक्त किया है। अपनी विशेष दृष्टि के सामने उन्होंने कला के नाम से कविता के लक्ष्य को गौण बनाने वाली विचार दृष्टि का बड़ी कड़ाई से उत्तर भी दिया है उनके अनुसार 'सारांश' यह है कि 'कला' शब्द के प्रभाव से कविता का स्वरूप तो हुआ सजावट या तमाशा और उद्देश्य हुआ मनोरंजन या मन बहलावा यह दशा देख कुछ पुराने मनोविज्ञानियों ने काव्य द्वारा प्रेरित विविध भावों के संचार को एक प्रकार की क्रीड़ा वृत्ति (Play impulse) ठहराया। यह 'कला' शब्द आजकल हमारे यहां भी साहित्य चर्चा में बहुत जरूरी सा हो रहा है। इससे न जाने कब पीछा छूटेगा?[18] इसी प्रकार से शुक्ल जी ने आनन्द और चमत्कार शब्दों को भी कटघरे में खड़ा किया है। चित्त वृत्ति के द्रवण एवं मार्मिक पक्षों के साथ लोक हृदय के सामंजस्य की तुलना में उन्हें आनन्द शब्द एवं चमत्कार शब्द भी हल्के प्रतीत होते हैं। अपनी धारणा को समझाते हुए शुक्ल जी लिखते हैं– 'मेरी समझ में रसास्वादन का प्रकृत स्वरूप 'आनन्द' शब्द से व्यक्त नहीं होता। लोकोत्तर. अनिर्वचनीय आदि विशेषणों से न तो उसमें अवाचकत्व का परिहार होता है न प्रयोग का प्रायश्चित। क्या क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि आनंद का रूप धारण करके ही श्रोता के हृदय में प्रकट होते हैं, अपने प्रकृत रूप का सर्वथा विसर्जन कर देते हैं, उसे कुछ भी लगा नहीं रहने देते? क्या दुरूख के भेद सुख के भेद प्रतीत होने लगते हैं?[19] शुक्ल जी ने अपनी बात से समझौता करना नहीं सीखा और अपनी बुद्धि की तराजू पर अपने ही बाट से अपनी ही बात को तौला और जो उस बने बनाये 'फ्रेम' में 'फिट' नहीं हुआ उसे स्वीकार नहीं किया। अपनी बात को सिद्ध करने में अन्य पक्षों की धज्जियां उड़ाते उन्हें देर नहीं लगी क्योंकि अपनी बात को स्थापित करते हुए वे किसी प्रकार से झुकने को तैयार नहीं थे। यही कारण है कि 'आनन्द', 'लोकोत्तर' एवं 'अनिर्वचनीय' शब्दों को उन्होंने अपने मंतव्य के अनुकूल न पाकर पहले सिरे से नकार दिया। भले ही इससे पूर्व जिन संस्कृत आचार्यों ने इन शब्दों का प्रयोग किया था उसमें भी विगलित वेद्यान्तर सम्पर्क शून्यता जन्य स्थिति थी, स्व पर के भेद से ऊपर की स्थिति भी उन्होंने निर्दिष्ट की थी, सत्व के उद्रेक में चित्त द्रवण विद्यमान था परन्तु शुक्ल जी ने रीतिकालीन काव्य में जब आनन्द एवं चमत्कार तथा अनिवर्चनीय आदि शब्दों का अपकर्षित रूप देखा तो उन्होंने उसे उसी सीमित परिधि में मानकर नकार दिया। अपनी पूर्व स्थापित मान्यता को और अधिक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए वे आगे कहते हैं–क्या मृत पुत्र को लिये विलाप करती हुई शैव्या से राजा हरिश्चन्द्र का कफन मांगना देख सुन कर आंसू नहीं आ जाते, दांत निकल पड़ते हैं? क्या महमूद के अत्याचारों का वर्णन पढ़कर यह जी में नहीं आता कि वह सामने आता तो उसे कच्चा खा जाते? क्या कोई दुःखांत कथा पढ़कर बहुत देर तक उसकी खिन्नता नहीं बनी रहती? 'चित्त का यह द्रुत होना' क्या आनंदगत है? इस आनन्द शब्द ने काव्य के महत्त्व को बहुत कुछ कम कर दिया है–उसे नाच तमाशे की तरह बना दिया है।[20] आनंद की नाच तमाशे से संगति बिठा कर शुक्ल जी ने अपनी बात तो ठोक कर कह दी जो कि उनके निष्कर्षों के अनुसार सही थी परन्तु शब्दों की गहराई में जायें तो आनन्द शब्द से काव्यशास्त्रीय मर्मज्ञ आचार्यों का तात्पर्य, कृति की एकाग्रता जन्य चित्त की उस अवस्था से था जहां वृति के एकाग्र होने के परिणाम स्वरूप स्वतः ही स्वरूप विश्रांति जन्य आनंद या सुख मिलता है। मेरी दृष्टि में शुक्ल जी को आनन्द के इस स्वरूप से तो परहेज नहीं रहा होगा। हां गहरी एवं मार्मिक स्थिति में जो चित्त की अवस्था है वह लोक की स्थिति से तो निश्चय ही अलग प्रकार की होती है क्योंकि लोक में ऐसी कारुणिक एवं दुखद स्थिति में मन के डूबने की इच्छा नहीं होती जबकि काव्य अथवा नाटक में किसी भी रचना को सर्वोत्कृष्टता का एक मापदण्ड यह भी रहता है कि चित की उस द्रवित स्थिति में भी मन में वहीं रमने की प्रवृत्ति यथावत् रहती है, यही उसकी आनन्द एवं अनिवर्चनीय रूपता का काम है। परन्तु इस स्तर से हलका भाव एवं अर्थ तो आनन्द का वास्तविक स्वरूप नहीं है। और उसकी आलोचना का शुक्ल जी को पूर्ण अधिकार है। उन्होंने आनन्द के साथ–साथ चमत्कार शब्द की भी इसी प्रकार से आलोचना करते हुए कहा है कि आनन्द शब्द से जिस प्रकार काव्य की नीयत को बदनाम किया है, उसी प्रकार से 'चमत्कार' शब्द ने उसके रूप को बहुत कुछ बिगाड़ा है।[21]

शुक्ल जी ने अपने विचारों और निष्कर्षों को ही अन्तिम माना और अपनी बात को इतनी मजबूती से कहा कि अन्य के लिए उन्होंने कहीं अवकाश नहीं रखा परन्तु उनकी ही बात को, उनकी ही मान्यता को, यदि उनकी अपनी ही कही हुई बात को, प्रत्युत्तर में देखा जाये तो बहुत कुछ जो भ्रमजाल सा बना हुआ है, वह हट जाता है। जब शुक्ल जी काव्य के चरम लक्ष्य की चर्चा करते हैं तब वह अहंकार त्याग की राय देते हैं। अहंकार त्याग के परिणामस्वरूप ही सर्वभूत को आत्मभूत की अनुभूति का मार्ग निर्दिष्ट करते हुए शुक्ल जी ने कहा है कि काव्य का चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराना है (दर्शन के समान केवल ज्ञान कराना नहीं) उसके साधन में भी अहंकार का त्याग आवश्यक है। जब तक इस अहंकार से पीछा न छूटेगा तब तक प्रकृति के रूप मनुष्य की अनुभूति के भीतर नहीं आ सकते।[22] रसवादी आचार्यों ने जिस आनन्द अथवा सुखानुभूति की ओर संकेत किया है वह भी सीमित आनन्द नहीं है। उनका अभिप्राय भी अन्तःकरण के परिष्कार से जुड़ा हुआ है। सामाजिक का अन्तःकरण जब अहंता ममता से रहित होकर स्व पर से ऊंचा उठ जाता है। तब वह अन्य अन्य खण्डों में बंटे हुए ज्ञान से रहित होता है वृत्ति जब एकाग्रता या समाहित

अवस्था में पहुच जाती है, तब अपनी ही असीम रूपता के साथ सामाजिक का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है ऐसे में चित्त की साधारणीकृत अवस्था में सभी अन्य अन्य भाव तिरोहित हो जाते हैं उस समय की करुणा, दुःख, शोक आदि की अनुभूति भी उसी भाव विशेष की होते हुए भी, काम्य अनुभव होती है उसमें वृत्ति बार–बार जाती है। सांसारिक जीवन में, व्यवहार में तो दुखात्मक प्रवृत्तियों में तो मनुष्य की गति ही नहीं होती। संसार के यथार्थ धरातल में और काव्य में व्यक्त भाव व्यापार में यह विलक्षणता है और रहेगी। शुक्ल जी ने जब स्वयं 'सर्वभूत को आत्मभूत' के रूप में अनुभव कराने की बात कही है तो संगति तो स्वतः ही बैठ जाती है कि जब तक सब में समान रूप से वही अनुभूति न हो तो उसकी मार्मिकता और विश्वहृदय के साथ सम्बन्ध स्थापना की बात सम्भव ही नहीं हो सकती। समष्टि भाव की समाहिति में सुखानुभूति या आनन्दानुभूति ही होती है। आनन्द के इस स्वरूप की अनदेखी करके शुक्ल जी ने रसवादी आचार्यों की पूरी साधना एवं स्थापना को ही पंगु बना दिया है। हां निश्चय ही यदि काव्य अपने चरम लक्ष्य से पतित होता है और हल्के आनन्द का तमाशा बनकर चमत्कार की सर्जना करता है, तब वह भर्त्सना योग्य है तब निश्चय ही उसे शुक्ल जी की दृष्टि से देखा भी जा सकता है और नकारा भी जा सकता है परन्तु एक शर्त के साथ। दोष पर चोट होनी चाहिए न कि मूल स्वरूप पर ही कुठाराघात पड़े।

शुक्ल जी ने सच्चे कवि के कर्म को भी लोकहृदय से संयुक्त करके देखा, जो कवि कर्म लोक हृदय में लीन होने का सामर्थ्य रखता है, वही सच्चा कवि कर्म है। काव्य की परख भी लोक हृदय की व्याप्ति पर निर्भर है और लोक हृदय तक कैसे पहुंचा जा सकता है इसके लिए शुक्ल जी ने साधारणीकरण की भूमिका को इस प्रकार से माना है जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलंबन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहां साधारणीकरण कहलाता है।'[23] और इस साधारण की पूर्णता या सफलता वे लोक हृदय में मानते हैं। यही है 'रसो वै सः' की सामाजिक अन्तःकरण में परिणति। शुक्ल जी ने काव्य का लक्ष्य यह माना है कि मनुष्य का हृदय विश्व हृदय बन जाये तभी काव्य की सार्थकता पूर्ण होती है। अपनी इसी बात को शुक्ल जी ने पुनः आगे स्पष्ट किया है कि सच्चा कवि वही है जिसे लोक हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच से मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को अलग करके देख सके। इसी लोक हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस दशा है।''[24]

यह हृदय कैसे लोक हृदय में भी होता है इसके लिए शुक्ल जी ने अपनी साधारणीकरण की प्रक्रिया को खोला है और समझाने की शैली में वे कहते हैं कि भावना व्यक्ति विशेष की ही रहती है, उसमें प्रतिष्ठा सामान्य स्वरूप की ऐसे स्वरूप की जो सब के भावों को जगा सके, कर दी जाती है। विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं, इसका तात्पर्य यही है कि रस मग्न पाठक के मन में यह भेद भाव नहीं रहता कि ये आलंबन मेरे हैं या दूसरे के। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है।[25]

किसी भी काव्य की सार्थकता एवं सफलता का आधार है लोक हृदय में उसकी पैठ कैसी है। शुक्ल जी ने अपनी साधारणीकरण विषयक दृष्टि को मनुष्य मात्र या हृदयमात्र से संयुक्त करके देखा है। काव्य वर्णित प्रसंगों की श्रोता या पाठक के हृदय पटल पर प्रभावान्वित कैसी पड़ती है। यह देखना महत्वपूर्ण है। शुक्ल जी ने इस दशा की अवस्था के लिए चित्त की अवस्था को विशेष महत्त्व दिया है। अहं की विगलित अवस्था ही पृथक सत्ता का परिहार करती है ऐसा मानते हुए शुक्ल जी कहते हैं कि रस दशा में अपनी पृथक सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है अर्थात् काव्य में प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से संबंद्ध रूप में नहीं देखते, अपनी योगक्षेम वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नहीं करते, बल्कि निर्विशेष शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा ग्रहण करते हैं इसी को पाश्चात्य समीक्षा पद्धति में अहं का विसर्जन और निःसंगता कहते हैं।[26] इस पूरी रस प्रक्रिया में शुक्ल जी ने चित्त अथवा हृदय के लिए जो विशेषण प्रयुक्त किए हैं वे लगभग वही विशेषण हैं जिन्हें पूर्व रसाचार्यों ने भी कहा है परन्तु अपनी मौलिक चितन–दृष्टि के कारण शुक्ल जी ने इस निर्विशेष शुद्ध और मुक्त हृदय की अवस्था को आलंबन एवं आश्रय की भूमिका के संदर्भ में देखा है। एक बात पर शुक्ल जी ने सर्वाधिक जोर दिया है और वह है लोकानुभूति, लोकहृदय। यही वह कसौटी है जिस पर किसी रचना का अस्तित्व टिका रहता है और जीवित भी रहता है। रस दशा की गूंज लोक हृदय को कैसे स्पर्श करती है इसे समझाने का प्रयास शुक्ल जी ने किया है और उनका निम्न कथन ही उनकी धारणा को पोषित करने के लिए पर्याप्त है– 'इस प्रकार साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि किसी काव्य में वर्णित आलंबन केवल भाव की व्यंजना करने वाले पात्र (आश्रय) का ही आलंबन नहीं रहता बल्कि अनेक पाठकों और श्रोताओं का भी आलंबन हो जाता है। अतः उस आलंबन के प्रति व्यंजित भाव में पाठकों या श्रोताओं का भी हृदय योग देता हुआ उसी भाव का रसात्मक अनुभव करता है।[27]

अध्ययन का उद्देश्य

रस सिद्धान्त मानव जीवन की वह अमूल्य सम्पदा है जो जीवन को जोड़ती है। यह उदात्त है और औरों को भी उदात्त बनाती है। रस तत्व की सार्थकता उसके समष्टि हृदय पर ही समायी हुई है। और यही रस की समाज सापेक्षता सामने आती है।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः रस की समाज–सापेक्षता संबंधी चिंतन अपने आप में जितना प्राचीन है उतना ही मानव हृदय अथवा सामाजिक हृदय से जुड़ा होने के कारण, नित्य नवीन भी है। यह पुराना होकर भी नित्य नवीन है। मानव जीवन को उदात्त मानव मूल्यों से सजाने की भावना जब तक शेष है तब तक रस को समाज सापेक्षता की प्रासंगिकता बनी रहेगी। वह साहित्य दो कौड़ी का है जो साहित्य के नाम पर मानव जीवन को कूड़े कचरे से भी बदत्तर कुरुचियों और कुसंस्कारों से यथार्थ के नाम पर भर दे। कुण्ठित भावनाओं को कला एवं यथार्थ के नाम

पर, कुत्सित भावनाओं को कलाकार की आज़ादी के नाम पर परोसे जाने वाला साहित्य ऐसा विषाक्त साहित्य है जो समष्टि मानव को अमानवीय बनाकर मृतप्रायः बना देता है। रस सिद्धान्त तो 'रसो वै सः' की मूल मंत्र धारणा को अपना कर समष्टि समाज को 'सद्यः पर निवृति' जन्य आत्मतोष देता है। उस सद्यः पर निवृति के क्षण में खण्डित हृदय ऐसी समाहिति में डूब जाता है कि अहं जनित स्व–पर की क्षुद्रता का वहां स्वतः ही नाश हो जाता है आत्माविश्रान्ति जन्य सुखानुभूति देने वाला रस सिद्धान्त क्या 'आउटडेटेड' हो सकता है। साहित्य अथवा काव्य में व्यक्त दुख, करुणा, क्रोध, भयानक आदि भाव जनित स्थितियाँ भी सत्व का उद्रेक यदि करने में सक्षम हैं तो वह वृत्ति को भी खण्ड–खण्ड होने से बचाकर अखण्डित बनाने में भी समर्थ हैं। उस अवस्था में जो चित्त की एकाग्रता है, वह जब भी निर्मित होगी वह रस का संचार करेगी। रस के संचरण की भूमिका पर एक या दो व्यक्ति विशेष ही नहीं डूबते हैं वह तो व्यष्टि से लेकर समष्टि मन तक अपना प्रभाव स्थापित करती है। श्रेष्ठ छायावादी कवि जयशंकर प्रसाद ने भी 'काव्येषु नाटकं रम्यम' का सहारा लेकर इसकी समाज सापेक्षता को ही रेखांकित किया है।[28] डॉ. नगेन्द्र के अनुसार यह सिद्धांत वास्तव में सांस्कृतिक भूमिका पर या उससे भी गहरी शुद्ध मानवीय भूमिका पर प्रतिष्ठित है जो आनन्द और कल्याण का मिलन तीर्थ है, जहां नैतिक एवं सांस्कृतिक, वैयक्तिक तथा सामाजिक भौतिक और आध्यात्मिक मूल्यों में कोई विरोध नहीं रह जाता।"[29]

अतः सम्पूर्ण रस सिद्धांत की विवेचना का सामाजिक चेतना के संदर्भ में यही निष्कर्ष निकलता है कि रस सिद्धान्त मानव जीवन की वह अमूल्य सम्पदा है जो जीवन को जोड़ती है जो जीवन के मध्य में रहकर स्पन्दित होने वाले भाव प्रवण चित्त को द्रवित कर उसे और अधिक संवेदन प्रवण बनाकर स्वर्ण से कुंदन बनाती है। यह वह संवेदना है जो करुणा एवं मानवीय भावनाओं की उष्मा से तप कर रस का संचार करती है। सारे घेरों और सीमितता के दायरों को अपने आत्मग्राही घेरे में लेकर स्वयं भी उदात्त बनती है औरों को भी उदात्त बनाती है। रस तत्त्व की सार्थकता उसके समष्टि हृदय पर अंकित होने में ही समायी हुई है और यहीं पर रस की समाज–सापेक्षता अपने सम्पूर्ण कलेवर में पूर्णता प्राप्त करती है।

अंत टिप्पणी

1. *रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 5*
2. *रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 5*
3. *क.द्रष्टव्य–नाट्यशास्त्र–भरतमुनि,ख, काव्यालंकार–भामह, ग, काव्यादर्श–दण्डी, घ, अभिनव भारती– अभिनवगुप्त, ङ. साहित्यदर्पण–विश्वनाथ, पृ. 234*
4. *द्रष्टव्यः तैत्तिरीय उपनिषद् 2.7*
5. *रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 18*
6. *रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 19*
7. *रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 19*
8. *रसगंगाधर काव्यमाला–5*
9. *रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 20*
10. *रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 20*
11. *रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 20*
12. *रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 22*
13. *रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 22*
14. *रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 22*
15. *रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 22–23*
16. *रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 63*
17. *रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 68*
18. *रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 193–194*
19. *रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 70–71*
20. *रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 71*
21. *रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 71*
22. *रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 81*
23. *रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 194*
24. *रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 194*
25. *रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 195*
26. *रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 196*
27. *रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 196*
28. *काव्य कला तथा अन्य निबंध–जयशंकर प्रसाद, पृ. 79*
29. *रस सिद्धांत : डॉ. नगेन्द्र, पृष्ठ 301*